

शास्त्र-ज्ञान का सच्चा लाभ है आत्मानुभव

भगवान ! तू एकबार सुन तो सही। जिसे अपने शुद्ध ज्ञानमय स्वभाव का पता नहीं, स्वानुभव नहीं; मात्र शास्त्राधार से शब्दज्ञान है, वह वस्तुतः ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि वह सब तो परलक्ष्यी ज्ञान है।

प्रश्न : शास्त्र से आत्मज्ञान होता है - ऐसा कथन भी तो शास्त्रों में ही आता है, उसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर : भाई ! वह तो निमित्त-नैमित्तिक सहज संबंध का ज्ञान कराने के लिये निमित्त की मुख्यता से किया गया उपचार का कथन है। निश्चय से तो शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप के आश्रय से आत्मज्ञान होता है। जब जीव स्वयं अपने शुद्ध आत्मा का आश्रय करे, तब बाह्य में शास्त्र पर अनुकूलता का आरोप आता है; क्योंकि शास्त्र के निमित्त से उसे आत्मा का परिचय मिला है।

अभव्य के ग्यारह अंग के ज्ञान को विकल्प बताते हुए कलश टीकाकार श्री ब्र. राजमलजी 13 वें कलश की टीका में लिखते हैं कि कोई जानेगा कि द्वादशांग ज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है; परन्तु भाई ! द्वादशांग का ज्ञान भी विकल्प है तथा शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है। देखा, सर्वज्ञ कथित शास्त्र में भी यह कहा है कि शुद्धज्ञानमय आत्मा को उपादेयरूप से अनुभव करने से उत्पन्न जो शुद्धात्मानुभूति है, वह मोक्षमार्ग है; शास्त्रज्ञान नहीं। अभव्य जीव शास्त्रज्ञान के विकल्प में अटका रहकर अंदर जो आनन्दघन स्वरूप भगवान आत्मा विराज रहा है, उसका अनुभव नहीं करता; इसीकारण शुद्धज्ञानमय मोक्षभाव का इसे श्रद्धान नहीं होता।

भगवान आत्मा सदा मोक्षस्वरूप है, अबद्ध है। 14 वीं गाथा में 'अबद्ध' शब्द आया है और यहाँ मोक्षस्वरूप कहा - ये दोनों ही नास्ति के कथन हैं, दोनों एक ही बात है। यह शुद्धज्ञानमय आत्मा मेरा ही स्वरूप है, यह अबद्ध व मोक्षस्वरूप आत्मा के रूप में मेरी ही चर्चा है - ऐसा अभव्य नहीं जानता। वह शास्त्रज्ञान के विकल्प में ही अटका है; इसकारण अंग का ज्ञान होने पर भी उसे धर्मलाभ नहीं होता।

आचार्य कहते हैं कि शास्त्रज्ञान का यथार्थ लाभ तो यह है कि जीव स्वयं को भिन्न वस्तुभूत अनुभव करे। अपने आत्मा को शरीरादि परद्रव्य से भिन्न, देव-शास्त्र-गुरु से भिन्न, द्रव्यकर्म- भावकर्म से भिन्न तथा नोकर्म से भी भिन्न मात्र ज्ञानप्रकाश का पुंज शुद्धज्ञानमय जाने-माने और वैसा ही अनुभव करे।

- प्रवचनरत्नाकर भाग-8, पृष्ठ -209-10

वीतराग-विज्ञान

वीतराग-विज्ञान ही, तीन लोक में सार।
वीतराग-विज्ञान का, घर-घर होय प्रसार।।

वर्ष : 20

235

अंक : 7

अष्टपाहुड पद्यानुवाद

शीलपाहुड

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

गोल हों गोलाद्ध हों सुविशाल हों इस देह के ।
सब अंग किन्तु सभी में यह शील उत्तम अंग है ॥२५॥
भव-भव भ्रमें अरहत घटीसम विषयलोलुप मूढजन ।
साथ में वे भी भ्रमें जो रहे उनके संग में ॥२६॥
इन्द्रिय विषय के संग पढ़ जो कर्म बाँधे स्वयं ही ।
सत्पुरुष उनको खपावे व्रत-शील-संयमभाव से ॥२७॥
ज्यों रत्नमंडित उदधि शोभे नीर से बस उसतरह ।
विनयादि हों पर आत्मा निर्वाण पाता शील से ॥२८॥
श्वान गर्दभ गाय पशु अर नारियों को मोक्ष ना ।
पुरुषार्थ चौथा मोक्ष तो बस पुरुष को ही प्राप्त हो ॥२९॥
यदि विषयलोलुप ज्ञानियों को मोक्ष हो तो बताओ ।
दशपूर्वधारी सात्यकीसुत नरकगति में क्यों गया ॥३०॥
यदि शील बिन भी ज्ञान निर्मल ज्ञानियों ने कहा तो ।
दशपूर्वधारी रूद्र का भी भाव निर्मल क्यों न हो ॥३१॥
यदि विषय विरक्त हो तो वेदना जो नरकगत ।
वह भूलकर जिनपद लहे यह बात जिनवर ने कही ॥३२॥

भोगोपभोगों को कौन समझदार चाहेगा

पूज्यपाद आचार्य देवनन्दिस्वामी के प्रसिद्ध ग्रन्थ इष्टोपदेश के 17वें श्लोक पर हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरसगर्भित प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल श्लोक इसप्रकार है -

आरम्भे तापकान्प्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान् ।

अन्ते सुदुस्त्यजान्, कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥17॥

प्रारंभ में संताप के कारण और प्राप्त होने पर अतृप्ति के करनेवाले तथा अन्त में जो बड़ी मुश्किलों से भी छोड़े नहीं जा सकते - ऐसे भोगोपभोगों को कौन विद्वान-समझदार आसक्ति से सेवन करेगा ?

(गतांक से आगे)

यहाँ इष्टोपदेश की 17 वीं गाथा चल रही है। आचार्यदेव कहते हैं कि अज्ञानी के लिए महाक्लेशजनक, अतृप्तिकारक और आसक्ति को बढ़ाने वाले भोगों को सीधे छोड़ना बहुत कठिन है; किन्तु ज्ञानी के लिए बहुत सरल है। जिसने अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन किया है - अनुभव किया है, वह विषयों को नहीं भोगता है। वही ज्ञानी पहले अनन्तकाल से पुण्य-पाप के भाव को और उसके फल को रुचिपूर्वक भोगता था; परन्तु अब आत्मा की खबर पड़ी, श्रद्धा की, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद चखा, तो विषयों के प्रति आसक्ति सहज ही छूट गई।

शंका - शिष्य कहता है कि हे महाराज ! आपने तो कहा था कि तत्त्वज्ञानी भोग नहीं भोगते; परन्तु हमने तो समझा है, शास्त्रों में ऐसा पढ़ा है कि तत्त्वज्ञानी तो स्त्री, पुत्र, परिवार सहित होता है और भोग भी भोगता है। चक्रवर्ती, तीर्थकर, राजा-महाराजा इत्यादि सम्यग्दृष्टि हों तो भी भोग भोगते हैं। शास्त्र में तो यह बात प्रसिद्ध ही है। तब आप ऐसा उपदेश क्यों देते हैं कि तत्त्वज्ञानी भोग नहीं भोगते ?

समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि ज्ञानी भोगों को रुचिपूर्वक नहीं भोगता है। जिसको आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भान नहीं है, वह संसार के भोगों को रुचिपूर्वक, होंशपूर्वक, उल्लासपूर्वक, एकत्वबुद्धि से आसक्तिपूर्वक भोगता है; परन्तु धर्मी के स्त्री,

कुटुम्ब हो, संसार के भोग भोगता हो; फिर भी उसकी भोगों में रुचि नहीं है, प्रीति नहीं है। प्रीति तो एकमात्र आत्मा के आनन्द की ही है। यदि अस्थिरतावश थोड़ा राग आता है तो उसके कारण भोग भोगता हुआ दिखाई देता है; परन्तु वह रुचिपूर्वक नहीं भोगता है।

ज्ञानी चारित्रमोह के उदय से राग की आसक्ति छोड़ने में समर्थ नहीं है। वह भोगों को छोड़ने योग्य समझता हुआ ही उनका सेवन करता है। रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष एवं भरत चक्रवर्ती जैसे ज्ञानियों के बहुत वैभव था, अनेक रानियाँ थी; किन्तु उनका भोग करते हुये भी उनकी भोगों में रुचि नहीं थी।

जिसप्रकार बिल्ली अपने मुख में अपने बच्चों को पकड़ती है तथा चूहों को भी पकड़ती है; परन्तु उसकी पकड़ में अन्तर है। चूहों को कसकर पकड़ती है और अपने बच्चों को बहुत प्यार से धीरे-धीरे पकड़ती है। बाहर से देखने पर लोगों को दोनों की पकड़ में अन्तर नहीं दिखाई देता है; उसीप्रकार ज्ञानी-अज्ञानी बिल्ली के समान भोग भोगते हुये दिखाई देते हैं; परन्तु अज्ञानी को मैं सच्चिदानन्दज्योति आनन्दस्वरूप हूँ - ऐसी खबर नहीं है। तथा बिल्ली अपने बच्चों को प्रेमपूर्वक पकड़ती है, वैसे ही अज्ञानी विषय-भोगों में लीन हो जाता है। और ज्ञानी विषय-भोग के समय उसमें लीन नहीं होता। जैसे बिल्ली चूहों को प्रेम से नहीं पकड़ती, वैसे ही ज्ञानी विषय-भोगों को प्रेम से नहीं पकड़ते। ज्ञानी तो भोगों को उपसर्ग मानते हैं; परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी से भोगों को छोड़ने में समर्थ नहीं है। वे तो भोगों को विष के समान त्याज्य मानते हैं। ज्ञानी को भोग में आसक्ति होती है; परन्तु रुचि नहीं होती।

प्रश्न - रुचि और आसक्ति में क्या अन्तर है ?

उत्तर - विषयों में सुख है - ऐसा मानना रुचि है; जबकि उनमें सुख नहीं मानते हुये भी चारित्र की कमजोरी से भोगना - थोड़ी बहुत आसक्ति का परिणाम है।

ज्ञानी जितनी आसक्ति को घटाता है, उतना मोह मन्द पड़ जाता है। वह शीघ्र ही ज्ञान वैराग्य की भावना से इन्द्रिय विषयों से छूटकर स्वयं अपने स्वरूप में स्थिर होता है।

ज्ञानी छह खण्ड का चक्रवर्ती राजा हो, हीरे के सिंहासन पर बैठा हो, अरबों रुपयों का मुकुट पहने हो, छियानवे हजार रानियों के साथ भोग भोगता हो; परन्तु उनमें उसकी रुचि नहीं है। आत्मा के आनन्द के सिवाय उसे कुछ नहीं दिखाई देता। वह भोगों को उपसर्ग मानता हुआ विचार करता है कि जो भोगों में मेरी आसक्ति है, वह मेरा ही दोष है - ऐसी

उसको अन्तर में खटक होती है। ज्ञानी के द्वारा भोगों को भोगना चारित्र का दोष है, श्रद्धा का दोष नहीं है। पुण्य-पाप का भाव सुखरूप लगे, वह दृष्टि का दोष है।

अहा ! मुनि तो चलते-फिरते सिद्ध हैं - वे तो सर्व विषय-कषाय छोड़कर स्वयं के कार्य करने के लिये कटिबद्ध हुये हैं; परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरीवश जो अभी गृहस्थ आश्रम में हैं - वे आसक्तिवश भोग भोगते हैं; परन्तु रुचि से नहीं। जैसे - मुर्दे को पालिस की हुई लकड़ियों से जलाने पर उसे सुख नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी को संयोगों में सुख भासित नहीं होता। यदि सम्यग्दृष्टि निर्धन हो, संयोग प्रतिकूल हो तो भी जैसे मुर्दे को खराब लकड़ियों से जलाने पर दुःख नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी को भी दुःख नहीं होता। ज्ञानी को अन्तर में धर्म प्रकट हुआ है; इसलिये उसके फल में उसे किसी भी अवस्थाओं में दुख नहीं होता, शांति ही रहती है। प्रतिकूल संयोग होने पर भी वह विचार करता है कि मैं तो आत्मा हूँ, मेरे में ही सुख है। मुझे बाहर के संयोगों की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि हे शिष्य तुम्हें ज्ञानी भोग भोगते हुये दिखाई देते हैं; परन्तु उनको भोगों में रुचि नहीं है और अज्ञानी भोग के त्यागी दिख जायें तब भी उनको भोगों में रुचि होती है। ज्ञानी और अज्ञानी के भोग भोगने के अभिप्राय में बहुत अन्तर है।

ज्ञानी ऐसा जानता है कि यदि अपनी आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान करते हैं तो उसके फल में मुझे शान्ति मिलेगी और पुण्य-पाप के भाव में मुझे दुःख होगा। ज्ञानी जड़ की क्रिया को जड़पने, राग की क्रिया को वैभाविक क्रियापने और स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान को स्वाभाविक क्रियापने जानता है। (1) जड़ की क्रिया (2) वैभाविक क्रिया (3) स्वाभाविक क्रिया - इन तीनों क्रियाओं को ज्ञानी जुदा-जुदा जानता है; परन्तु अज्ञानी कोई क्रिया मेरी, कोई पर की, कोई विभाव की, कोई स्वभाव की - इसप्रकार भिन्न-भिन्न नहीं जानता। वह तो पर की क्रिया को अपनी क्रिया मानकर सब खिचड़ी कर देता है।

मैं पवित्र शुद्धात्मा हूँ, उसका साधन निश्चय से मेरा स्वभाव है और पुण्य-पाप आदि के परिणाम व्यवहार निमित्त साधन हैं। वास्तव में तो पुण्य का परिणाम पुण्य बंध का कारण है - ऐसा विवेक ज्ञानी को बराबर वर्तता है।

मोक्षमार्ग के क्रम में सर्वप्रथम आत्मा की पहिचानरूप सम्यग्दर्शन हो, बाद में व्रतादि के परिणाम आवें, तत्पश्चात् आत्मा में विशेष स्थिरतारूप मुनिपना आवे; फिर केवलज्ञान हो, तब मोक्ष होता है - ऐसा ज्ञानी बराबर जानता है। अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है। **(क्रमशः)**

प्रवचनसार प्रवचन

ज्ञानस्वभाव की अद्भुत सामर्थ्य

परमपूज्य सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम प्रवचनसार की 29 वीं गाथा पर हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरसगर्भित प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

ण पविट्टो णाविट्टो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।

जाणदि परस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥ २९ ॥

जैसे चक्षु रूप में अप्रविष्ट रहकर तथा अप्रविष्ट न रहकर जानती-देखती है; उसीप्रकार आत्मा इन्द्रियातीत होता हुआ अशेष जगत को ज्ञेयों में अप्रविष्ट रहकर तथा अप्रविष्ट न रहकर निरंतर जानता देखता है।

(गतांक से आगे)

केवलज्ञान लोकालोक को ग्रसित कर जाता (जान लेता) है; इसलिए आत्मा लोकालोक में प्रविष्ट होता-ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। राग और निमित्त बिना पूर्ण ज्ञानस्वभाव के साथ जो पर्याय होती है, वह सम्यग्दर्शन है। यहाँ केवलज्ञान का निर्णय करने की बात करते हैं। यह आत्मा पूर्ण होने की शक्तिवाला है। ज्ञान लोकालोक के समान अनन्त लोकालोक को भी जानने की शक्तिवाला है, इसतरह ज्ञान को कहाँ रोकना है? निमित्त व राग में रोकना है, या ज्ञानस्वभावी आत्मा में रोकना है? कहते हैं कि जो ज्ञान को ज्ञानस्वभावी आत्मा में रोकता है, वही केवलज्ञान पर्याय को प्रगट करता है।

जैसे मोर सर्प की पूँछ को पकड़ता है, पूँछ पकड़ने से सर्प ढीला पड़ जाता है और मोर सर्प को पूरा निगल जाता है। मोर की पकड़ को निर्भयता वाली देखकर सर्प का गला एकदम ढीला हो जाता है; वैसे ही केवलज्ञान की पर्याय में सम्पूर्ण लोकालोक प्रविष्ट हो गया है, मानो सम्पूर्ण लोकालोक ज्ञान में प्रविष्ट हो गया है, कोई भी अंश शेष नहीं रहा है। जैसे ग्रास छोटा है और मुंह बड़ा हुआ है, वैसे ही लोकालोक छोटा हो गया है और केवलज्ञान शक्ति से बड़ा है। लोकालोक का मूल मानो कि उखड़कर अंदर हो गया है-केवलज्ञान के पेट में प्रवेश कर गया है; अतः परपदार्थ परिपूर्ण जानने में आ रहा है, इसलिए आत्मा ज्ञेयों

में प्रवेश को प्राप्त होकर जानता-देखता है-ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। इसतरह स्व-पर प्रकाशक शक्ति प्रगट हुई है, अर्थात् कुछ भी जानने में शेष नहीं रहा है।

शंका : ज्ञेयों का मूल ही उखाड़ दिया है तो क्या ज्ञेयों के क्षेत्र एवं काल की शुरूआत ही नहीं हुई है?

समाधान : नहीं, शुरूआत ही नहीं हुई, फिर भी ज्ञेय जैसे हैं, उनको केवलज्ञान वैसा ही जानता है। यहाँ इस सिद्धांत को सिद्ध करना है कि ज्ञान ज्ञेयों में प्रविष्ट नहीं होता; फिर भी ज्ञेय जानने में आ जाते हैं; इसलिए ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट हो गये हैं- ऐसा कहा जाता है तथा ज्ञान ज्ञेयों को जानता है, इसलिए ज्ञान ज्ञेयों में प्रविष्ट हो गया है-ऐसा कहा जाता है।

इस बात को दृष्टान्त से समझाते हैं। जिसप्रकार आँख अपने प्रदेशों द्वारा रूपी पदार्थों को स्पर्श नहीं करती हुई होने से निश्चय से तो वह ज्ञेयों में अप्रविष्ट ही है तथा जिसप्रकार आँख अग्नि, बर्फ आदि में प्रवेश नहीं करती; फिर भी उन रूपी पदार्थों को जानती है; इसलिए यह कहा जाता है कि आँख पदार्थों में प्रवेश करती है; उसीप्रकार आत्मा का ज्ञान अपने प्रदेशों द्वारा ज्ञेय पदार्थों को स्पर्श नहीं करता हुआ होने से निश्चय से तो वह ज्ञेयों में अप्रविष्ट ही है तथा ज्ञान पदार्थों में प्रवेश नहीं करता; फिर भी उन पदार्थों को जानता है; इसलिए उपचार से यह कहा जाता है कि ज्ञान पदार्थों में प्रवेश करता है, इसतरह व्यवहार से ज्ञेय पदार्थों में आत्मा का प्रवेश सिद्ध होता है।

अब यहाँ दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध करते हैं कि ज्ञान पदार्थों में प्रवृत्त होता है -

रयणमिह इन्द्रणीलं दुद्धज्जसियं जहा सभासाए ।

अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमट्टेसु ॥30 ॥

जैसे इस जगत में दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा के द्वारा उस दूध में व्याप्त होकर वर्तता है; उसीप्रकार ज्ञान पदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है।

अब, इसतरह नीचे बताये अनुसार ज्ञान पदार्थों में वर्तता है, इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जैसे दूध में रहा हुआ इन्द्रनीलरत्न अपनी प्रभा के समूह द्वारा दूध में व्याप्त होकर वर्तता दिखाई देता है, ऐसा लगता है कि नीलमणीरत्न सम्पूर्ण दूध में बैठ (प्रविष्ट) हो गया हो, सम्पूर्ण दूध को नीला कर दिया हो, वैसे ही संवेदन ज्ञान भी आत्मा से अभिन्न होने से कर्ता अंश द्वारा आत्मपने को प्राप्त होता हुआ, ज्ञानरूप करण अंश द्वारा कारणभूत पदार्थों

के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों में व्याप्त होकर वर्तता है।

यहाँ आत्मा कर्ता, ज्ञान करण, पदार्थ कारण तथा द्रव्य-गुण-पर्याय कार्य है। तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा कर्ता अपने ज्ञानरूपी करण अंश द्वारा सामने स्थित पदार्थों में वर्तन करते हुए वर्तता है; इसलिए कार्य में कारण का उपचार करके ज्ञान पदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है- ऐसा कहना विरोध को प्राप्त नहीं होता।

ज्ञान पदार्थों के कार्यभूत द्रव्य-गुण-पर्याय (ज्ञेयाकार)में व्याप्त होता है, उस कार्य को ज्ञान ने जाना; इसलिए ज्ञान पर में गया- ऐसा कहा जाता है अथवा ये ज्ञेय ज्ञान में प्रवेश कर गये हैं- ऐसा कहा जाता है।

वास्तव में आत्मा का पदार्थों में प्रवेश नहीं होता; किन्तु यहाँ उपचार किया गया है; क्योंकि ज्ञेय तो ज्ञेय ही हैं, ज्ञान उनमें प्रविष्ट नहीं होता। ज्ञान में सभी ज्ञेय जानने में आते हैं; इसलिए ज्ञान ज्ञेयों में प्रविष्ट हुआ-ऐसा कहा जाता है। इसतरह यहाँ व्यवहार सिद्ध किया है।

अब, यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा के ज्ञान में परपदार्थ निमित्तकारण हैं। ज्ञान पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, इसलिए ज्ञान पदार्थों में व्याप्त होता है - ऐसा उपचार किया जाता है। जिसतरह दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभासमूह द्वारा दूध में व्याप्त होकर वर्तता हुआ दिखाई देता है। उपचार से दूध में पसरता हुआ दिखाई देता है; उसीप्रकार अखण्ड भगवान आत्मा, ज्ञान से अभिन्न हाने से कर्ता अंश द्वारा आत्मपने को प्राप्त होता हुआ और ज्ञान साधन के भेद द्वारा कारणभूत पदार्थों के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों में व्याप्त होकर वर्तता है।

चूँकि ज्ञान और आत्मा अभेद हैं; तथापि कर्ता और साधन की अपेक्षा उसके दो भेद किये गये हैं। यह ज्ञान करण अंश द्वारा और आत्मा कर्ता द्वारा, पदार्थ जिसके कारण हैं - ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय में व्याप्त होता है। द्रव्य-गुण-पर्याय पदार्थ के कार्य हैं तथा पदार्थ कारण है; परन्तु वे आत्मा के कार्य नहीं तथा ज्ञान के कर्म नहीं हैं।

शरीर, मन, वाणी आदि पदार्थ, द्रव्य-गुण-पर्याय के कारण हैं और द्रव्य-गुण-पर्याय उनके कार्य हैं। इसतरह ज्ञान और आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय में व्याप्त होता है - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं; इसलिए कार्य में कारण का उपचार करके ज्ञान पदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है - ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं आता।

(क्रमशः)

शक्तियों का संग्रहालय : भगवान आत्मा

परमपूज्य सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम समयसार नामक ग्रन्थाधिराज पर परमपूज्य आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने 'आत्मख्याति' नामक संस्कृत टीका लिखी है, उसके अन्त में परिशिष्ट के रूप में अनेकान्त का विस्तृत वर्णन करते हुये आत्मा की 47 शक्तियों का वर्णन किया है &

उन पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने समय-समय पर अतिमहत्त्वपूर्ण प्रवचन किये हैं, जो पाठकों के लाभार्थ क्रमशः प्रस्तुत हैं।

(गतांक से आगे)

आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है; विभाव क्षणिक हैं और संयोग अभावरूप हैं।

अब, यदि आत्मा अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर संयोग का आश्रय लेने जाये तो वे संयोग कहीं उसे आधारभूत नहीं होते; मात्रा आकुलता और विभाव की उत्पत्ति होती है और यदि संयोग का आश्रय छोड़कर अपने स्वभाव का आश्रय करे तो उसके आधार से निराकुल शान्ति होती है। धर्मात्मा जानता है कि प्रत्येक प्रसंग में और सभी क्षेत्रों में मुझे अपने आत्मा का ही आधार है। महल में या जंगल में मेरा आत्मा ही मुझे शरणभूत है।

देखो, सीताजी धर्मात्मा थीं। जब चरमशरीरी लव और कुश उनके गर्भ में आये तो उनके मन में आकांक्षा जाग्रत हुई कि मैं सम्पेदशिखर आदि तीर्थों की यात्रा करूँ और ठीक उसीसमय नगरजनों ने आकर रामचन्द्रजी से लोकापवाद की बात कही।

रामचन्द्रजी ने सेनापति को बुलाकर आदेश दिया कि 'सीता को सम्पेदशिखर आदि तीर्थों तथा जिनबिम्बों की वंदना कराओ और उनकी इच्छा पूर्ण होने पर फिर सिंहनाद नामक भयानक वन में अकेली छोड़ दो।' सीताजी ने हर्ष सहित भक्तिभाव से तीर्थवंदना की। सिंहनाद वन आने पर रथ को रोककर सेनापति एकदम रो उठते हैं, तब सीताजी पूछती हैं -

'अरे सेनापति ! क्या हो गया तुम्हें ? तीर्थवन्दना के इस शुभ अवसर पर तुम

शोक क्यों कर रहे हो ?'

सेनापति की आँखों से आँसू बह रहे हैं। वे कहते हैं -

'हे माता ! जिसप्रकार मुनिवर राग परिणति का त्याग कर देते हैं; उसीप्रकार श्री रामचन्द्रजी ने लोकापवाद के भय से आपको वन में अकेली छोड़ देने का आदेश दिया है।'

सेनापति के शब्द कानों में पड़ते ही सीताजी मूर्छित हो गईं। देखो ! उस मूर्छा के समय भी धर्मात्मा सीताजी के अंतर में भान है कि चाहे जिस प्रसंग पर अपने धर्म के लिए मुझे अपने आत्मा का ही आधार है। फिर सचेत होने पर श्री रामचन्द्रजी को संदेश पहुँचाती हैं कि हे सेनापति ! मेरे राम से कहना कि लोकापवाद के भय से जैसा मेरा त्याग कर दिया वैसा ही किसी के कहने से जिनधर्म को मत छोड़ना। अज्ञानी लोग तो जिनधर्म की भी निन्दा करेंगे तो उस निन्दा के भय से सम्यग्दर्शन को मत छोड़ देना ! मुनियों एवं अर्जिकाओं को भक्तिपूर्वक आहार दान देना।

देखो ! ऐसे दुःखद प्रसंग पर भी सीताजी को अंतरस्वभाव के आश्रय से धर्मात्मा उत्पन्न हुआ है। अन्तर में धर्म के आधारभूत स्वभाव का आश्रय है; उसी के आधार से यह उल्लास पैदा हुआ है। अहो ! मैं भले ही वन में अकेली रह गई; किन्तु मेरे अन्तर में धर्म का आधार विद्यमान है, उसे मैं नहीं छोड़ती और मेरे राम से कहना कि वे भी धर्म को न छोड़ें।

इसप्रकार धर्म को ही शरणभूत जानकर धर्मात्मा उसी का आश्रय लेते हैं। अज्ञानी तो संयोग में और आकुलता में एकाकार होकर अन्तर के आधार को भूल जाते हैं। धर्मात्मा को भी किञ्चित् आकुलता और शोक हो जाता है; किन्तु वे आत्मा के आधार को भूलकर शोक में या संयोग में एकाकार नहीं हो जाते। संयोग को अपने धर्म का आधार स्वप्न में भी नहीं मानते; इसलिए सभी प्रसंगों पर स्वभाव के आधार से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म तो वर्तता ही रहता है। साधारण जीवों के लिए धर्मात्मा के हृदय की पहिचान करना कठिन है।

जहाँ शेर, चीते घूम रहे हैं - ऐसे भयानक वन में सीताजी अकेली बैठी हैं। उदर में लव और कुश जैसे दो चरमशरीरी पुत्रा पड़े हैं। शेर, चीतों की दहाड़ें सुनाई देती हैं। अरे ! यह शेर आया ! चीता आया ! ऐसी आशंका से किञ्चित् भय भी लगता है; तथापि स्वभाव में तो उससमय भी निःशंक हैं। अरे ! मैंने तो अपने चैतन्य का आधार लिया है। यह जंगल, यह शेर, चीतों की गर्जनाएँ - कोई भी

संयोग मुझे अपने स्वभाव का आधार छुड़ाने में समर्थ नहीं है। ऊपर आकाश और नीचे धरती, भले ही कोई सगे- संबंधी नहीं हैं; किन्तु मैं अशरण नहीं हूँ; अन्तर में मेरा चिदानन्द स्वभाव ही मुझे शरणभूत है।

देखो, सीताजी कहाँ हैं ? क्या जंगल में हैं ? - नहीं, क्या संकट में है ? - नहीं, अपनी आत्मा में हैं ? अन्तर में चैतन्यस्वभाव की शरण लेने से जो श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द के परिणाम होते हैं, उन्हीं में सीताजी का आत्मा वर्त रहा है। आधारभूत ऐसे अपने स्वभाव की शरण को प्रतिक्षण दृढ़ करती हैं। बाह्य में जो कुछ होना हो सो हो; किन्तु अन्तर में जो चैतन्य का महान आधार है, वह नहीं छूट सकता; उस चैतन्य के आधार से हमें दुःख नहीं; किन्तु आनन्द है। आँखों से आँसू बह रहे हैं; फिर भी भान है कि - मेरा आत्मा इन आँसुओं का आधार नहीं है; किंचित् खेद के परिणाम होते हैं उनका आधार भी आत्मा नहीं है; मेरा आत्मा तो ज्ञान-आनन्द का ही आधार है। यह स्त्री का शरीर मैं नहीं हूँ; इस भयानक जंगल में या विशाल राजमहल में रहनेवाले हम नहीं हैं। महल हमें शरणभूत थे और जंगल में हम अशरण हो गये - ऐसा नहीं है। अपने आत्मा के सिवा सारा जगत हमारे लिए अशरण ही है।

देखो, यह मात्रा ऐसे विकल्प या विचार की बात नहीं है; किन्तु आत्मबल से, चैतन्यस्वभाव के आधार से अन्तर में ऐसे अभिप्राय का निर्विकल्प परिणाम हो गया है; वह प्रतिक्षण, प्रत्येक प्रसंग पर वर्तता ही रहता है; उसकी यह बात है; चैतन्यस्वभाव के आधार से जो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम हुआ वही धर्म है।

आत्मा के स्वभाव में ऐसी शक्ति है कि चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंगों में भी वह आधारभूत होता है और उसके आश्रय से शान्ति मिलती है। सातवें नरक की घोर प्रतिकूलता में पड़े हुए नारकियों में भी कोई-कोई जीव पूर्वकाल की देशनालब्धि के संस्कारों का आधार लेकर अन्तर में अपने चैतन्यस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं और ऐसी अपूर्व आत्मशान्ति का वेदन करते हैं कि स्वर्ग में मिथ्यादृष्टि देवों को भी उसकी गंध नहीं होती।

आत्मा का आधार लिए बिना बाह्य में किसी के आधार से सुख या शान्ति लेना चाहे तो वह तीन काल-तीनलोक में कहीं प्राप्त नहीं हो सकती। किन्हीं भी संयोगों में किसी भी क्षण अपने स्वानुभव की ओर उन्मुख होकर उसका आश्रय करने से सुख एवं शान्ति का अनुभव होता है। (क्रमशः)

ज्ञान गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से पूछे गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर

प्रश्न : 'राग-द्वेष तो धर्म नहीं अधर्म है' - ऐसा आप कहते हो; अतः जहाँ राग-द्वेष हो, वहाँ धर्म का अंश भी नहीं होना चाहिये ?

उत्तर : राग-द्वेष स्वयं धर्म नहीं है - यह बात बराबर है; किन्तु अल्प राग-द्वेष होने पर भी सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म हो सकता है। निचलीदशा में सम्यग्ज्ञान के साथ अल्प राग-द्वेष भी होता है; किन्तु ज्ञानी जानता है कि वह अधर्म है, जितना राग-द्वेष रहित स्वसंवेदन हुआ उतना ही धर्म है। राग को धर्म माने, तब तो श्रद्धा-ज्ञान भी मिथ्या ही है; परन्तु रागरहित ज्ञान स्वभाव को जानकर उसकी श्रद्धा हुई हो और राग सर्वथा टला न हो तो इससे कहीं श्रद्धा और ज्ञान मिथ्या नहीं हो जाते। उसीप्रकार वहाँ राग-द्वेषरूप अधर्म है, इसलिये सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान में कोई कमी हो जाती हो - ऐसा भी नहीं है। राग-द्वेष विद्यमान होने पर भी क्षायिक श्रद्धा हो सकती है; कारण यह है कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि अनन्त गुण हैं, वे सर्वथा अभेद नहीं है। पूर्ण की श्रद्धा होने के बाद पूर्णदशा प्रकट होने में समय लगता है, एक साथ नहीं हो जाते; परन्तु पूर्णता प्रगट होने का अपना स्वभाव है - यह बात जब प्रतीति में आ जावे, तब अल्पकाल में पूर्णता प्रगट हुए बिना रहेगी नहीं।

प्रश्न : धर्म प्राप्त करने के लिये प्रथम क्या निर्णय करें ?

उत्तर : त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से ही धर्म होता है - ऐसा प्रथम निर्णय करना चाहिये। जिससे परलक्ष्यी भाव की अनुमोदना न हो। प्रथम श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् होते हैं और बाद में सम्यक्चारित्र होता है। तथापि क्या करें ? लोग बाह्य क्रियाकाण्ड में चढ़ गये हैं, इसलिये उन्हें कठिन लगता है। आत्मा स्वभाव से तो प्रभु है, क्षण में पलट जायेगा, एक क्षण की भूल है, वह एक क्षण में टल भी सकती है।

प्रश्न : परवस्तु से आत्मा को लाभ-हानि नहीं है। आत्मा के अकल्याण का कारण राग है - ऐसा आप कहते हैं। क्या उस राग से भी अधिक अकल्याण का कारण कोई अन्य भी है ?

उत्तर : कोई भी परवस्तु अथवा देव-गुरु-शास्त्र आदि इस जीव को कल्याण-

अकल्याण का कारण नहीं है। मात्र अपनी पर्याय में सच्ची समझ और स्थिरता ही कल्याण का कारण है तथा विपरीत समझ और रागादि ही अकल्याण का कारण है। यद्यपि राग इस जीव को अकल्याण का ही कारण है तथापि रागभाव से जितना अकल्याण होता है। उसकी अपेक्षा अनन्त गुणा अकल्याण 'राग से आत्मा को लाभ होता है' अथवा 'राग में धर्म है' – इस विपरीत मान्यता से होता है। ऐसे विपरीत मान्यतावाला जीव त्यागी और पण्डित होने पर भी महासंसार में भटकता है।

प्रश्न : धर्म का प्रारंभ किसके आश्रय से होता है ?

उत्तर : एक स्वद्रव्य का आश्रय करने से ही धर्म का प्रारंभ होता है। इसके विपरीत लाख पर द्रव्य का आश्रय करे तथापि धर्म का प्रारंभ हो सकता नहीं। पर्याय द्रव्य की तरफ ढले, द्रव्य का आश्रय ले, इसी प्रयोजन से समस्त वाचन, विचार, मनन, श्रवण करना चाहिये; क्योंकि मूल अभिप्राय तो द्रव्य का आश्रय लेना ही है।

प्रश्न : जीव का मूल प्रयोजन क्या है और उसके कितने प्रकार हैं ?

उत्तर : जीव का मूल प्रयोजन वीतरागभाव है। उस वीतरागभाव के दो प्रकार हैं – (1) दृष्टि में वीतरागता (2) चारित्र में वीतरागता। प्रथम दृष्टि में वीतरागता होती है, जोकि सम्यक्त्व का कारण है। मेरे अभेद चैतन्यस्वभाव में राग नहीं और पर्याय में राग होता है। वह सम्यग्दर्शन का – वीतरागी दृष्टि का कारण है। यदि उस राग के साथ एकता की जाये तो मिथ्यात्व का कारण है और उस राग का आश्रय छोड़कर स्वभाव की एकता की जाये तो सम्यक्त्व का कारण है। इसप्रकार स्वभाव की मुख्यता करने पर वीतरागी दृष्टि प्रकट होती है और तब राग का निषेध स्वयं हो जाता है। इसके पश्चात् ही वीतरागी चारित्र प्रकट होता है।

प्रश्न: 'द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि द्रव्यं अर्थात् द्रव्यानुसारी चरण और चरणानुसारी द्रव्य – इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर : छठे गुणस्थान में जो शुद्धता होती है वह द्रव्य के ही आश्रय से होती है; परन्तु यहाँ राग की मंदता कितने अंशों में है उसके ज्ञान से शुद्धता कितनी है, यह देखा जाता है। आश्रय का अर्थ यह नहीं है कि राग के आश्रय से धर्म होता है। शुद्धता जितने प्रमाण में होती है, उतने ही प्रमाण में राग की मंदता होती है और राग की मंदता जितनी होती है उसीप्रकार में शुद्धता भी अपने अर्थात् शुद्धता के कारण से होती है, इसी को 'द्रव्यानुसारी चरण अथवा चरणानुसारी द्रव्य होता है' – ऐसा कहा जाता है। ऐसा प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन के अंत में श्लोक-12 में कहा गया है।

वेदी शिखर शिलान्यास महोत्सव

मुंबई(भायन्डर): यहाँ दिनांक 21 से 22 दिसम्बर 2002 तक भायन्डर समाज द्वारा वेदी शिखर शिलान्यास महोत्सव का आयोजन किया गया, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त तार्किक विद्वान डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल के दोनों समय समयसार पर मार्मिक प्रवचन हुए तथा आपके प्रवचन के पूर्व दोनों समय ब्र. जतीशचंदजी शास्त्री सनावद के मोक्षमार्गप्रकाशक पर प्रवचन हुये; जिनका लाभ सम्पूर्ण समाज ने लिया।

दोपहर में विधान एवं ब्र. चेतनाबेन द्वारा बालकक्षा ली गयी। विधि-विधान के सम्पूर्ण कार्य ब्र. जतीशचंदजी शास्त्री सनावद के निर्देशन में पण्डित राजकुमारजी शास्त्री बांसवाड़ा, पण्डित अभिनयकुमारजी शास्त्री एवं पण्डित रजनीभाई ने सम्पन्न कराये।

सम्पूर्ण कार्यक्रम में लगभग 2000 व्यक्तियों ने लाभ लिया। इस अवसर पर डॉ. भारिल्ल के 313 घंटे के सी.डी. एवं ऑडियो कैसिट्स घर-घर पहुँचे।

विधान एवं शिक्षण-शिविर सानन्द सम्पन्न

देवलाली (महा.): यहाँ 24 से 30 दिसम्बर 2002 तक श्रीमती दमयन्तीबेन मीठालाल जुगराज जैन, मुम्बई परिवार की ओर से ऋषिमण्डल विधान एवं शिक्षण-शिविर का आयोजन हुआ।

इस अवसर पर अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त तार्किक विद्वान डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल के समयसार पर मार्मिक प्रवचनों के अतिरिक्त पं. अभयकुमारजी शास्त्री छिन्दवाड़ा, ब्र. हेमचन्दजी 'हेम' भोपाल, पं.दिनेशभाई शाह एवं डॉ. उज्वला शाह मुम्बई के प्रवचनों एवं कक्षाओं का लाभ समाज को मिला।

विधि-विधान के समस्त कार्य बाल ब्र. पण्डित जतीशचन्दजी शास्त्री के निर्देशन में पण्डित सुबोधजी शास्त्री शाहगढ़, पण्डित मनीषजी शास्त्री रहली, पण्डित अनिलजी 'धवल' भोपाल एवं पण्डित अभिनयजी शास्त्री जबलपुर ने सम्पन्न कराये।

- कान्तिभाई मोटाणी

सिद्धचक्र विधान एवं आध्यात्मिक शिविर सम्पन्न

ललितपुर (उ.प्र.): यहाँ सकल दिग. जैनसमाज एवं श्री दिग. जैन स्वाध्याय मण्डल ललितपुर द्वारा 2 जनवरी से 9 जनवरी 2003 तक श्री सिद्धचक्र महामण्डल विधान एवं आध्यात्मिक शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें पण्डित वीरेन्द्रकुमारजी आगरा, पण्डित सुबोधकुमारजी सिवनी एवं स्थानीय पण्डित कैलाशचंदजी 'अचल' आदि अनेक विद्वानों के प्रवचनों, प्रौढ़ कक्षाओं एवं बालकक्षाओं का लाभ समाज को मिला। रात्रि में प्रतिदिन सांस्कृतिक कार्यक्रम हुये।

विधि-विधान के सम्पूर्ण कार्य प्रतिष्ठाचार्य बाल ब्र. पण्डित जतीशचन्दजी शास्त्री सनावद के निर्देशन में पण्डित सुबोधकुमारजी शास्त्री शाहगढ़, पण्डित अभिनयजी शास्त्री जबलपुर, पण्डित अनिलजी 'धवल' भोपाल एवं श्री अमरकुमार जैन ग्वालियर ने सम्पन्न कराये।

सिद्धचक्र महामण्डल विधान सानन्द सम्पन्न

फिरोजाबाद (उ. प्र.): यहाँ श्री छदामीलाल दिग. जैन मंदिर में श्री पाण्डे राजाराम मिठानी देवी परिवार द्वारा 26 दिसम्बर 2002 से 2 जनवरी 2003 तक श्री सिद्धचक्र महामण्डल विधान का आयोजन किया गया, जिसमें जयपुर से पधारे पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के प्रातः द्रव्यदृष्टि पर तथा रात्रि में जिनपूजन रहस्य पर मार्मिक प्रवचन हुए। साथ ही पण्डित अशोककुमारजी सिरसागंज, पण्डित योगेशकुमारजी अलीगंज तथा पण्डित पीयूषकुमारजी शास्त्री जयपुर के प्रवचनों का लाभ समाज को प्राप्त हुआ। श्रीमती कमलाजी भारिल्ल द्वारा छहढाला की एवं पण्डित अनन्तवीरजी शास्त्री द्वारा बालकक्षा ली गयी।

सम्पूर्ण विधि-विधान का कार्य पण्डित विरागकुमारजी शास्त्री जबलपुर, पण्डित चेतनकुमारजी शास्त्री नलखेड़ा, पण्डित अभिनयकुमारजी शास्त्री जबलपुर ने सम्पन्न कराया।

सभी कार्यक्रमों में स्थानीय पण्डित नवीनजी शास्त्री, पण्डित सोनूजी शास्त्री, पण्डित विपिनजी शास्त्री, पण्डित सौरभजी शास्त्री एवं अरहंतवीर जैन का सराहनीय सहयोग रहा।

संस्कृत गोष्ठी सानन्द सम्पन्न

जयपुर : यहाँ श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय में नववर्ष के शुभ अवसर पर रविवार, दिनांक 5 जनवरी 2003 को आयोजित विशिष्ट संस्कृत गोष्ठी का विषय **न्यायदीपिका :** एक निरीक्षण रखा गया। गोष्ठी में सभी वक्ताओं ने संस्कृत भाषा में ही अपने विषय का प्रतिपादन किया।

गोष्ठी की अध्यक्षता डॉ. श्रेयांसकुमारजी सिंघई ने की। श्रेष्ठ वक्ता का पुरस्कार नितेन्द्र जैन अकाइरी एवं दीपक जैन जवेरा को दिया गया। श्रेष्ठ वक्ताओं के अतिरिक्त समस्त वक्ताओं को श्री दुलीचंदजी जैन खैरागढ़वालों की ओर पुरस्कृत किया गया। संचालन चिन्मय जैन पिड़ावा ने तथा संयोजन जिनेन्द्र जैन उदयपुर ने किया।

रविवारीय गोष्ठियाँ सानन्द सम्पन्न

जयपुर : यहाँ श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के प्रांगण में रविवारीय गोष्ठियों की श्रृंखला में 22 दिसम्बर को आयोजित विचार गोष्ठी का विषय 'कर्म सिद्धान्त : एक अनुशीलन' रखा गया। गोष्ठी की अध्यक्षता इस विषय के मर्मज्ञ विद्वान ब्र. यशपालजी जैन जयपुर ने की। अध्यक्षीय उद्बोधन के रूप में उन्होंने कहा कि इसप्रकार के करणानुयोग जैसे गंभीर विषय पर प्रत्येक वर्ष गोष्ठी का आयोजन किया जाना चाहिए।

प्रथम पुरस्कार मनोज जैन अभाना तथा द्वितीय पुरस्कार धर्मेन्द्र जैन बड़ामलहरा, नवीन जैन अहमदाबाद एवं राजेश जैन गुढ़ा ने प्राप्त किया। गोष्ठी का संचालन ऋषिराज जैन बरा ने एवं संयोजन पुलकित जैन कोटा ने किया।

- मनोज जैन, अभाना

